

## इकाई-3 विद्यापति और उनका युग

### इकाई की रूपरेखा

- 3.0 उद्देश्य
- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2 विद्यापति का युग
  - 3.2.1 राजनीतिक परिस्थिति
  - 3.2.2 सामाजिक स्वरूप
  - 3.2.3 इतिहास
- 3.3 विद्यापति की भाषा
  - 3.3.1 जन भाषा का निर्माण
  - 3.3.2 भाषागत विशेषताएँ
- 3.4 सारांश
- 3.5 अभ्यास/प्रश्न

### 3.0 उद्देश्य

पिछली दो इकाइयों में आपने पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता, ऐतिहासिकता, भाषा, काव्यरूप और काव्यत्व का अध्ययन किया। अब हम आदिकाल के एक प्रमुख कवि विद्यापति का अध्ययन करने जा रहे हैं। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- विद्यापति के साहित्य में राजनीति, समाज और इतिहास का परिचय प्राप्त कर सकेंगे, और
- विद्यापति की भाषा की उर्वरता की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

### 3.1 प्रस्तावना

हिंदी साहित्य के आदिकाल के सर्वाधिक लोकप्रिय ग्रंथ पृथ्वीराज रासो से आप पिछली दो इकाइयों में परिचित हो चुके हैं। इससे आपको आदिकालीन काव्य की एक विशिष्ट शैली की जानकारी मिली। हिंदी साहित्य के आरंभिक युग में कई शैलियाँ और धाराएँ एक-साथ विकसित हुईं। इस युग में महाकाव्य भी लिखे गए और मुक्तक भी, प्रशस्ति काव्य भी रचे गए और शृंगार काव्य की भी रचना की गई, सिद्ध-नाथों ने भी काव्य रचा और जैन-मुनियों ने भी साहित्य की रचना की। इसी युग में विद्यापति कविताएँ लिख रहे थे। विद्यापति का युग आदिकाल के अवसान का युग था। भक्तिकाल का आरंभ नहीं हुआ था और आदिकाल की क्षमताएँ चुक रही थीं। दहलीज पर खड़ा कवि आदिकाल की पूरी परम्परा से जुड़ा था और नए युग के आगमन का संकेत भी दे रहा था। इसीलिए कीर्तिलता और कीर्तिपताका जैसे प्रशस्ति काव्य ग्रंथ लिखे गए, "पदावली" जैसी शृंगारिक उक्तियाँ अभिव्यक्त की गईं और राधा तथा कृष्ण का स्मरण कर कवि ने बता दिया कि आने वाला युग भक्ति को समर्पित है। विद्यापति की इस व्यापकता में विविधता, नूतनता और प्रयोग भी परिलक्षित हो सकता है और कहीं-कहीं इन सभी प्रवृत्तियों के बीच अंतर्विरोध भी नज़र आ सकता है।

विद्यापति की रचनाओं में उनका युग प्रतिबिम्बित हुआ है। कीर्तिलता और कीर्तिपताका इतिहास के दस्तावेज़ हैं। पृथ्वीराज रासो के समान इसमें प्रक्षेप नहीं हुआ है, अतः ऐतिहासिक भूलें नहीं की गई हैं। सभी तथ्य इतिहास-सम्मत हैं।

विद्यापति की भाषा अपभ्रंश से छूटती हुई और आधुनिक आर्यभाषाओं की ओर बढ़ती हुई भाषा है। उनकी भाषा जन-भाषा है। संस्कृत, फारसी, प्राकृत आदि स्रोतों से कवि ने शब्द ग्रहण अवश्य किया है परंतु उसे ज्यादा से ज्यादा जन-भाषा मैथिली के नज़दीक ले जाने का प्रयास किया है। सामाजिक और ऐतिहासिक दृष्टि से उनकी भाषा सामासिक संस्कृति के भाषाई विकास का प्रमाण प्रस्तुत करती है।

## 3.2 विद्यापति का युग

इतिहासकारों के बीच प्रायः मान्य है कि विद्यापति सन 1360 से 1480 के बीच मौजूद थे। अनेक दृष्टियों से यह संक्रमण-काल माना जाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने विद्यापति को न तो वीरगाथाकाल में रखा है और न भक्ति काल में। अनेक इतिहासकारों ने आचार्य शुक्ल की इतिहास-लेखन पद्धति की आलोचना करते हुए इसी बात को अपना दृष्टांत बनाया है कि इतिहास में विद्यापति का स्थान तय करने के लिए आचार्य शुक्ल को फुटकल खाता खोलना पड़ा। लेकिन, यह ऐतिहासिक वास्तविकता है कि विद्यापति संक्रमण-काल के कवि हैं। विद्यापति की रचनाओं की अंतर्कथा एवं अंतर्वस्तु पर तथा साहित्य, समाज और राजनीति के इतिहास पर ध्यान देने से संक्रमण की प्रक्रिया और विद्यापति की रचनात्मक विशेषताओं के बीच घना संबंध दिखायी पड़ता है। प्रवृत्तियों की दृष्टि से वे हिंदी साहित्य के इतिहास में न वीरगाथा के कवि हैं और न भक्ति आंदोलन के। यों कीर्तिलता और कीर्तिपताका में भी उन्होंने अपने चरित नायकों की वीरता का वर्णन किया है और वह वर्णन रोमांचक वीरता से भरपूर है और उनके पूरे काव्य में भक्ति के भी ढेर सारे पद हैं। भक्ति भावना होने के बावजूद वे भक्ति आंदोलन के अंग नहीं हैं, क्योंकि उनकी भक्ति-भावना में आंदोलन की चेतना नहीं है। इन बातों से परे विद्यापति मूलतः शृंगारिक कवि हैं। जो लोग विद्यापति की पदावली का भक्तिपरक अर्थ निकालने की कोशिश कर रहे थे, उन पर व्यंग्य करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने "इतिहास" में कहा था कि आजकल आध्यात्मिकता के चश्मे बहुत सस्ते हो गए हैं। अतः विद्यापति की मूल प्रवृत्ति और उनके समय की विकासमान प्रवृत्ति में एक तरह से अंतर्विरोध था। यही साहित्यिक एवं ऐतिहासिक कारण है कि आचार्य शुक्ल उन्हें फुटकल खाते में रखते हैं। इससे विद्यापति का काव्यात्मक या ऐतिहासिक महत्व कतई कम नहीं होता, बल्कि उनकी विशिष्टता ही प्रमाणित होती है। वे युगांतर के कवि थे।

### 3.2.1 राजनीतिक परिस्थिति

विद्यापति के समय में भारत में आम तौर से दिल्ली सल्तनत का राज था। इसे स्पष्ट रूप से कहा जाए कि विद्यापति के जीवन-काल में दिल्ली पर तुगलक और लोदी वंश का शासन था। ज़ाहिर है कि विद्यापति के जन्म के बहुत पहले भारत में इस्लाम का आगमन हो चुका था और दिल्ली सल्तनत भी बहुत पहले स्थापित हो चुका था। भारत की जनता ने काफी पहले दिल्ली सल्तनत को स्वीकार कर लिया था, बावजूद इसके कि पूरे देश पर दिल्ली सल्तनत का प्रत्यक्ष शासन नहीं था। लेकिन व्यवहार में उनका प्रभुत्व देश पर था। देशभर में फैली स्थानीय सत्ताएं सल्तनत का प्रभुत्व स्वीकार कर चुकी थीं। प्रायः आठवीं शताब्दी से उत्तर भारत में जो राजनीतिक अस्थिरता थी, वह दिल्ली सल्तनत की स्थापना से समाप्त हो गई थी। लेकिन सत्ता के लिए संघर्ष होता रहता था। "सत्ता के लिए होने वाली इस प्रतिद्वंद्विता में सल्तनत का उद्भव एक निर्णायक तत्व के रूप में हुआ और उसने प्रादेशिक शक्तियों को बढ़ने से रोकने का प्रयत्न किया।" (रोमिला थापर - भारत का इतिहास, 1975 संस्करण, पृ.241) अखिल भारतीय स्तर पर राजनीतिक स्थिति का एक पहलू यह था कि केंद्रीय सत्ता दिल्ली सल्तनत की थी, जो भीतरी अंतर्विरोध और उठा-पटक के बावजूद कायम थी। उसके प्रभाव से परम्परागत भारतीय राजनीति समाप्त-प्राय हो गयी थी, या शेष थी तो क्षेत्रीय एवं स्थानीय शासन के रूप में ही। इस क्रम में उल्लेखनीय है कि भारतीय राजनीति और समाज में धार्मिक दृष्टि से दो समुदाय हिंदू और मुसलमान अस्तित्व में आ गए थे। इस नई बात ने राजनीति में भी नयापन ला दिया। जवाहरलाल नेहरू ने भारत की खोज में अमीर खुसरो का जिक्र करते हुए लिखा था कि देश में मुसलमानों के आगमन के बाद राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से जो नयापन विकसित हुआ उसी की देन है अमीर खुसरो। यह बात थोड़े-बहुत फर्क के साथ विद्यापति के बारे में भी कही जा सकती है। यदि विद्यापति कीर्तिलता और कीर्तिपताका जैसी कृतियों की रचना नहीं करते तो शायद यह बात नहीं भी कही जाती, लेकिन यह तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति की भूमिका का रचनात्मक प्रभाव है कि विद्यापति ने कीर्तिलता और कीर्तिपताका की रचना की। खुसरो और विद्यापति में फर्क यह है कि खुसरो दिल्ली में रहते थे और विद्यापति मिथिला में। दिल्ली में दिल्ली सल्तनत की राजधानी थी, फलतः खुसरो का उससे सीधा लगाव था। मिथिला दिल्ली से बहुत दूर देश के पूर्वी क्षेत्र का अंग होने के कारण केंद्रीय सत्ता में होने वाले उथल-पुथल के तात्कालिक प्रभाव से दूर रही है। "मिथिला (उत्तरी बिहार) में - जो अन्य अधिकांश स्थानों की अपेक्षा अधिक समय तक तुर्क आक्रमणों से अछूता रहा था - संस्कृत विद्या के एक केंद्र का विकास हुआ, क्योंकि वहाँ भारी संख्या में ब्राह्मण

एकत्रित हो सके, जिन्होंने अपनी कृतियों में संस्कृत साहित्य की परम्परा को सुरक्षित रखा।" (सेमिला थापर - उपर्युक्त ग्रंथ, पृ.284) इस कथन का महत्व इस बात को ध्यान में रखकर समझा जा सकता है कि दिल्ली सल्तनत के शासनकाल में फारसी के राजभाषा हो जाने से संस्कृत का महत्व कम हो गया और इसी कारण समाज में ब्राह्मणों का भी महत्व घट गया।

मिथिला में संस्कृत भाषा-साहित्य की परम्परा और ब्राह्मणों का प्रभाव कागम रहने के बावजूद विद्यापति के समय में बदलाव आया। मिथिला पर असलान शाह का हमला भी हुआ और भाषा-साहित्य के अखिल भारतीय परिदृश्य का प्रभाव भी पड़ा। इतिहासवेत्ता सधाकृष्ण चौधरी लिखते हैं, "विद्यापति के समय में इस्लाम और हिन्दू धर्म के बीच भी एक प्रकार का आदान-प्रदान शुरू हो चुका था और उत्तर बिहार उस समय सूफियों का एक प्रधान केंद्र बन चुका था। महाराज शिव सिंह ने कुछ मुसलमान संतों और फकीरों को जो दान दिया था उसका प्रमाण भी मिला है। हिन्दू-मुसलमान का संबंध मिथिला के क्षेत्र में काफी अच्छा था और ज्योतिरीश्वर के ठाकुर 'वर्ण रत्नाकर' में जो विदेशी अरबी-फारसी शब्द हैं, इससे यह सिद्ध होता है कि राजनीतिक आधिपत्य के बहुत पूर्व ही मिथिला में अरबी-फारसी भाषा से सम्पर्क हो गया था। सूफी संतों और फकीरों के माध्यम से ही यह संभव हुआ होगा।... दोनों धर्मों के समन्वय और समागम से नवीन दृष्टिकोण का बीजारोपण हो रहा था और विद्यापति-युग आते-आते इसका और भी विकास हुआ।" (विद्यापति युग का सामाजिक-सांस्कृतिक अध्ययन - "विद्यापति अनुशीलन और मूल्यांकन" में संकलित, सम्पादक डॉ. वीरेन्द्र श्रीवास्तव, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी से प्रकाशित) विद्यापति की रचनाओं में इस संक्रान्ति और समन्वय के दौर में विकसित नए दृष्टिकोण की झलक मिलती है। इस दृष्टिकोण की मुख्य विशेषता है राजनीति का धार्मिक प्रभाव से मुक्त होना। धर्म-निरपेक्ष शब्द नया है यानी उस समय यह शब्द नहीं था, लेकिन इसका जो अर्थ है, उसमें निहित जो दृष्टिकोण है, वह कीर्तिलता में है, बल्कि यह कहना बेहतर होगा कि यह दृष्टिकोण विद्यापति में भी है। कीर्तिलता में यह वर्णित है कि राज्य लोभी असलान ने धोखे से तिरहुत के राजा गणेश्वर को मार डाला और राज्य पर कब्जा कर लिया। इसके बाद भी राजा गणेश्वर के पुत्र कीर्ति सिंह ने सोचा कि असलान से बदला लेने के लिए सुल्तान की मदद लेनी चाहिए। उसने सुलतान से मदद माँगी और सुलतान ने असलान के खिलाफ कीर्ति सिंह को मदद दी। सुलतान की सेना की मदद से कीर्ति सिंह ने असलान को भयानक युद्ध में हरा कर खदेड़ दिया और अपने राज्य पर फिर से कब्जा जमा लिया। ध्यान देने की बात यह है कि मुसलमान हमलावर के खिलाफ मदद माँगने के लिए कीर्ति सिंह, मुसलमान सुलतान के पास ही गया और मदद पाकर राज्य वापस लिया। यह इस बात का सबूत है कि राजनीति धर्म से प्रेरित नहीं थी। इस प्रसंग में यह भी महत्वपूर्ण है कि सुलतान ने असलान के हारने के बाद राज्य को अपने अधीन नहीं कर लिया, बल्कि कीर्ति सिंह का ही राज्याभिषेक कर दिया। यह भी उल्लेखनीय है कि कीर्ति सिंह के पूर्वज भोगीस राय को दिल्ली के बादशाह फिरोज़शाह तुगलक अपना सखा कहते थे। तत्कालीन राजनीति का असली रूप राज्य पाने के लिए की जाने वाली साजिशों, हमलों, लड़ाइयों और खूरेजी में देखा जा सकता है। इन सबके फलस्वरूप समाज को राजनीतिक अराजकता के दुष्परिणाम झेलने पड़ते थे। **कीर्तिपताका** में भी राजा शिव सिंह और सुलतान का युद्ध वर्णित है। युद्ध में शिवसिंह को विजयी दिखाया गया है। इस विजय के फलस्वरूप राजा शिव सिंह की कीर्ति-पताका चारों तरफ फहराती है। राजतंत्र के युग में राजा की कीर्ति जनता की भलाई अथवा अन्य किसी गुण के कारण नहीं, युद्ध में विजय के जरिये ही फैलती है। राजा की शक्ति सेना और युद्ध जीतने की क्षमता में निहित रहती थी। **कीर्तिलता** में भी इक्कीसवें पद में कहा गया है कि "जो तीखा तर्क कर सकता है, तीनों वेदों को पढ़ता है, दान से दरिद्रता का दलन करता है, परम ब्रह्म को परमार्थ समझता है, धन से कीर्ति बटोरता है, पराक्रमपूर्वक शत्रु से लड़ता है, वह ओइन वंश संसार-प्रसिद्ध है। दोनों बातें एक-साथ नहीं हो सकती। राजा (भूपति) भी हो और ब्राह्मण (भूदेव) भी, यह संभव नहीं। इस कथन में भी देखें कि राजा की कीर्ति धन और सैन्य बल के आधार पर ही फैलती है। यहाँ तो विद्यापति ने धन की भूमिका को ज्यादा असरदार बताया है।

### 3.2.2 सामाजिक स्वरूप

राजतंत्र राजनीतिक व्यवस्था कायम करने के अलावा समाज में सामंतवादी व्यवस्था की रक्षा करता था। इस तरह प्रजा का दुहरा शोषण होता था। **कीर्तिलता** और **लिखनावली** में इस बात का उल्लेख मिलता है कि मिथिला का समाज सामंतवादी था। इसलिए सामाजिक विषमता कई रूपों में मौजूद थी, जिसकी अभिव्यक्ति राजनीति और समाज में कई तरह से होती रहती थी। आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से निचले तबके के लोग राजनीतिक सत्ता के लाभ से तो वंचित थे ही, उसके दमन के भी शिकार होते थे।

तत्कालीन समाज वर्णों, जातियों और वर्गों में विभाजित था। राजनीतिक अस्थिरता का सामाजिक स्थिति पर प्रतिकूल असर पड़ता था, जिसका लाभ ऊंचे तबके के लोग ही उठाते थे और निचले तबके के लोगों का संकट बढ़ जाता था, जिससे विषमता और बढ़ ही जाती थी। कीर्तिलता के "द्वितीय पल्लव" के प्रारंभ में ही निम्नलिखित पद है, जिससे सामाजिक स्थिति का पता चलता है -

ठाकुर ठक भए गेल चोर सरपरि घर सज्जिअ;  
दासे गोसाउनि गहिअ धम्म गए धंध निमज्जिअ॥  
खले सज्जन परिभविअ कोइ नहि होइ विचारक।  
जाति अजाति विवाह अधम उत्तम कौ पारक॥

अर्थात् राजा गणेश्वर के निधन के बाद हालत इतनी बिगड़ गई कि ठाकुर ठग हो गए, चोरों ने बलपूर्वक घरों पर कब्जा कर लिया, नौकरों ने गृह-स्वामिनियों को घर दबाया, धर्म खत्म हो गया और धंधे डूब गए, दुष्टों ने सज्जनों को दबाव दिया, कोई विचार करने वाला नहीं रहा, जाति और अजाति में विवाह होने लगे, अधम और उत्तम के भेद का विवेक करने वाला कोई नहीं बचा।

फिर आगे की दो पंक्तियों में कहा गया है -

अक्खर रस बुज्झि निहार नहि कवि कुल भमि भिख्खरि भऊं।  
तिरहुत्ति तिरोहि सबे गुणे रा गणेथ जबे सगग गरुं॥

अर्थात् अक्षर-रस (यानी काव्य-रस) का मर्मज्ञ कोई नहीं बचा, कवि लोग घूम-घूम कर भिखारी हो गए। राजा गणेश्वर जब स्वर्ग चले गए तो तिरहुत के सभी गुण तिरोहित हो गए।

कवि तो कह रहा है कि राजा गणेश्वर के स्वर्गवास के बाद तिरहुत के समाज में उपर्युक्त दुर्वृत्तियाँ फैल गईं, लेकिन वैज्ञानिक ढंग से सोचने पर स्पष्ट होगा कि ये दुर्वृत्तियाँ समाज में पहले से थीं; हाँ, राजा का कठोर शासन रहा होगा, जिसके भय से जनता में एक व्यवस्था थी। वह भय खत्म हो जाने से या समाज में अराजकता छा जाने से ठगी बढ़ गई, चोरी और सीनाजोरी बढ़ गई, परिवारों में अनाचार होने लगा, धर्म के नियम गायब हो गए और अव्यवस्था के कारण व्यापार चौपट होने लगा। ऐसे दौर में आम तौर से निचले तबके के लोग ऊपर उठते हैं, इसलिए उस समय के तिरहुत में भी जातीय भेदभाव पर चोट पड़ने लगी और कवियों की हालत खराब हो गई।

यह हालत तो मिथिला के सामान्य समाज की थी, लेकिन कीर्ति सिंह के जौनपुर पहुँचने पर इस नगर का जो वर्णन किया गया है, उससे समाज के एक दूसरे रूप का साक्षात्कार होता है। इस वर्णन से वर्ग विभाजित सामंती समाज का जीवंत स्वरूप सामने आ जाता है। बड़ी-बड़ी और ऊंची-ऊँची अट्टालिकाओं के वर्णन से धनाढ्य राज्यसत्ता से जुड़े वर्ग का बोध होता है। बाज़ार की भीड़ का कीर्तिलता में रोचक वर्णन है। नगर के समाज में ब्राह्मण, कायस्थ, राजपूत और अन्य अनेक जातियाँ बसी थीं। वहाँ वेश्याएँ भी थीं और उनके भी महल ऐसे थे कि कवि को लगता है कि उन्हें स्वयं विश्वकर्म ने बनाया हो। वहाँ बड़ी संख्या में गुलाम भी थे जो बिकने के लिए तैयार रहते थे। वहाँ दासियाँ और नौकर-चाकर भी बहुतेरे थे। हिंदू-मुसलमान एक साथ रहते थे, हालाँकि राज्य की सुविधा की दृष्टि से भेदभाव था। इसके बावजूद "कहीं बांग दी जा रही है, कहीं वेल्-पाठ है, कहीं बिस्मिल्लाह है, कहीं बलि है। कहीं ओझा है, कहीं खोजा है। कहीं नकल (रात्रि-व्रत) है, कहीं रोजा है, कहीं ताम्रपत्र है और कहीं कूजा है।" कहीं मुसलमानों के द्वारा जोर-जबरदस्ती किए जाने का भी वर्णन है। ऐसा लगता है व्यवसाय काफी विकसित था। ऐसा वर्णन है कि "दोपहर में भीड़ लगती है। पृथ्वी मंडल की समस्त वस्तुएँ बिकने आती हैं। व्यापारी क्षण में (यानी कम समय में) अपनी सारी चीज़ें बेच लेते हैं और जो खरीदना होता है, खरीद लेते हैं। लेकिन जौनपुर के प्रसंग में वर्णित समाज का यह ढाँचा मिथिला में भी था। "मैथिल समाज सामंतवादी आधार पर ही टिका हुआ था और मध्यकालीन सामंतवादी समाज के सारे दोष वहाँ विराजमान थे। समाज में मूलतः दो वर्गों के लोग थे और बेगार की प्रथा थी।...वास्तविकता यह थी कि मध्ययुग में ब्राह्मण बड़े-बड़े सामंत थे और वे जमीन दान देकर अपने अधीन छोटे-छोटे सामंत रखते थे।" (राधा कृष्ण चौधरी) उस समय तक जाति-प्रथा मिथिला में और भी मज़बूत हो गयी थी जिसका खास कारण था वहाँ राजा हरि सिंह देव के समय (सन 1324) से पंजी की प्रथा का प्रचलित होना। प्रो. चौधरी लिखते हैं कि "जातीय शुद्धि के नाम पर अथवा अपने प्रद को और ऊपर उठाने के निमित्त एक-एक व्यक्ति ने पच्चीस-पच्चीस विवाह करने शुरू कर दिए और इस तरह "बिकोआ" की प्रथा चल पड़ी। इस तरह पंजी प्रथा ने जाति-व्यवस्था और विवाह को और विकृत ही बनाया। विद्या और ज्ञान की भूमि होने के बावजूद मिथिला में भी धन ही सामाजिक

प्रतिष्ठा का मुख्य आधार था। जहाँ पच्चीस विवाह एक पुरुष करता था वहाँ स्त्रियों की दुर्दशा का सहज अनुमान लगाया जा सकता है।

लिखनावली में विद्यापति ने सामाजिक स्थिति का वर्णन किया है। उसके अध्ययन से पता चलता है कि राज्य से जुड़े लोगों में विलासिता व्याप्त थी और जनता में दरिद्रता। **कीर्तिलता** के एक कथन के उल्लेख से बताया जा चुका है कि राजा कभी-कभी दरिद्रों को दान दिया करते थे। "दान" सम्पन्नता और दरिद्रता की परस्पर विरोधी जीवन-स्थितियों के होने का प्रमाण है। समाज में उन लोगों का सम्मान बहुत था जो राज-दरबार से सम्पृक्त होते थे। गरीबों की हालत बहुत खराब थी। दासों को तो प्रतिदिन एक वक्त का आहार ही मिलता था। किसानों की हालत कुछ बेहतर थी। लेकिन किसी-किसी किसान को बैल बंधक रखना पड़ता था। समाज में सूदखोर महाजन थे, जो किसानों को कर्ज देकर फसल कटने के समय दो गुना वसूल कर लेते थे।

ज़ाहिर है कि विद्यापति-युगीन समाज वर्ग-विभाजित था। राजा और सामंत प्रभुत्व में थे। व्यापारी और महाजन भी सुखी-सम्पन्न थे। किसान, खेत मजदूर और दास शोषित वर्ग के अंग थे। सामाजिक विषमता और अंतर्विरोध का यह मुख्य रूप था। समाज में जात-पाँत थी ही। अन्य सामाजिक तबकों की स्थिति का उल्लेख पहले हो चुका है। यह सामाजिक स्थिति है, जो विद्यापति को प्रेरित और प्रभावित करती है, और अनेक रचनाओं में वे इसका चित्रण करते हैं। ध्यान देने की बात है कि यथार्थ-चित्रण से एक तरफ साहित्य की महिमा बढ़ती है तो दूसरी तरफ समाज को समझने का स्रोत प्राप्त होता है।

### 3.2.3 इतिहास

साहित्य के आधार पर इतिहास लिखने की पद्धति अपने देश में हाल में ही अपनाई गई है। लेकिन वास्तविकता यह है कि प्राचीन भारत का इतिहास भी पहले साहित्यिक कृतियों के आधार पर ही लिखा गया। बाद में इतिहास-लेखन के अन्य साधन उपलब्ध हुए तो साहित्य को आधार बनाने की प्रवृत्ति घट गई। अब फिर से इतिहास-लेखन में साहित्य को आधार बनाने की प्रवृत्ति बढ़ी है। जिस साहित्य में यथार्थ-चित्रण की प्रवृत्ति मिलती है, वही साहित्य खास तौर से इतिहास-लेखन का आधार बनता है। विद्यापति की कृतियों में **कीर्तिलता**, **कीर्तिपताका**, **लिखनावली** आदि में इतिहास संबंधी सामग्री मिलती है। लेकिन इन कृतियों की इतिहास संबंधी सामग्री में कितनी ऐतिहासिकता है, इसकी जाँच करना आवश्यक होता है। **कीर्तिलता**, **कीर्तिपताका**, **लिखनावली** में जो कथा या जो तथ्य वर्णित हैं, उनसे ऐतिहासिकता का पता चलता है। राजा कीर्ति सिंह और शिव सिंह ओइन वंश के थे, यह उल्लेख कथा को ऐतिहासिकता प्रदान करता है। यह वंश मिथिला में आज भी उपलब्ध है। दिल्ली के तुर्क बादशाह फिरोज़शाह मिथिला के भोगीस राय को भाई की तरह मानते थे। इससे भी कथा में ऐतिहासिकता आ जाती है। विद्यापति प्रायः फिरोज़शाह तुगलक और उसके कुछ बाद लोदी वंश के समय में भी थे। इसलिए वे स्वयं मिथिला की ऐतिहासिक कथा के प्रमाण बन गए लगते हैं।

**कीर्तिपताका** में मिथिला के राजा गणेश्वर सिंह और असलान का युद्ध फिर असलान के खिलाफ लड़ने के लिए कीर्ति सिंह के द्वारा सुलतान की मदद लेना ऐतिहासिक घटनाएं हैं। इसी तरह, **कीर्तिपताका** में राजा शिव सिंह और सुलतान का युद्ध भी कथा को ऐतिहासिकता प्रदान करता है। मिथिला के इतिहास से जुड़ी ये घटनाएं यद्यपि मध्यकालीन भारतीय इतिहास की मुख्य धारा से कुछ भिन्न लगती हैं, फिर भी मध्यकाल के इतिहास को समग्रता प्रदान करने की दृष्टि से **कीर्तिलता** और **कीर्तिपताका** की कथा का ऐतिहासिक महत्व है।

यह ऐतिहासिक तथ्य है कि कर्णाट वंश के अंतिम शासक हरिसिंह देव ने तीर भुक्ति राज्य ओइनवार वंश को सौंपा था। यही हरिसिंह देव हैं जिन्होंने तेरहवीं सदी में मिथिला में ब्राह्मणों के लिए पंजी का निर्माण कराया। **कीर्तिलता** की कथा बताती है कि कैसे कीर्ति सिंह राजा बने। विद्यापति ने भृंग-भृंगी संवाद के रूप में लिखित कथा में भृंगी से प्रश्न करवाया कि राजा कीर्ति सिंह किस वंश के थे और वे स्वयं कौन थे! इसी प्रश्न के उत्तर के रूप में **कीर्तिलता** की रचना हुई है। विद्यापति के बारे में ऐतिहासिक रूप से स्वीकृत है कि वे राजा शिवसिंह के दरबार में रहते थे। उनकी पदावली में भी बार-बार राजा शिवसिंह और उनकी रानी लखिमा देवी का जिक्र आता है, जिससे विद्यापति और राजा शिव सिंह के संबंध की ऐतिहासिकता प्रमाणित होती है। इस प्रसंग में उल्लेखनीय है कि मध्यकालीन भारत का इतिहास - राजनीति, सामाजिक या सांस्कृतिक - जिसने भी लिखा है, उसने मिथिला और विद्यापति की उपेक्षा की है। इसलिए, ऐसे इतिहासकार **विद्यापति** और **कीर्तिलता** की ऐतिहासिकता के प्रमाण नहीं बन पाते। जब इतिहास-लेखन में क्षेत्रीय इतिहास का महत्व बढ़ा, तब ऐतिहासिक दृष्टि से **विद्यापति** और **कीर्तिलता**, **कीर्तिपताका** और **लिखनावली** जैसी उनकी कृतियों का भी महत्व बढ़ा। इस

प्रसंग में प्रो. राधाकृष्ण चौधरी, डॉ. उपेन्द्र ठाकुर आदि के द्वारा मिथिला के इतिहास का अनुसंधान महत्वपूर्ण है। हिंदी के विद्वानों ने इस प्रसंग में जो काम किए हैं, वे भाषा के विकास और उसकी प्रकृति एवं साहित्यिक विवेचन तक सीमित हैं, वह काम डॉ. नामवर सिंह का हो या डॉ. शिवप्रसाद सिंह का या डॉ. वीरेन्द्र श्रीवास्तव का। इन विद्वानों से पहले डॉ. हरप्रसाद शास्त्री, डॉ. बाबू राम सक्सेना आदि के काम भी भाषावैज्ञानिक ही ज्यादा हैं। हाँ, हिंदी में डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने इतिहास की दृष्टि से भी विचार किया है। लेकिन इन सभी विद्वानों ने जिस दौर में काम किया, उस समय विद्यापति के अध्ययन के प्रसंग में मुख्य समस्या थी उनकी कृतियों का प्रामाणिक संस्करण तैयार करके प्रकाशित करना। मैथिली और संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान डॉ. उमेश मिश्र के सामने भी मुख्य समस्या यही थी कि कैसे प्रामाणिक पाठ तैयार किया जाए। इन सब सीमाओं के बावजूद सभी विद्वानों ने स्वीकार किया है कि विद्यापति शिव सिंह के समय थे और कीर्तिलता एवं कीर्तिपताका की रचना का ऐतिहासिक आधार प्रामाणिक है।

इस अध्ययन से जो प्रमुख बिंदु उभर कर आए हैं उसपर एक दृष्टि डाल ली जाए :

- विद्यापति के युग में राजनीति धार्मिक प्रभाव से मुक्त हुई।
- मिथिला का समाज सामंतवादी था; आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से निचले तबके के लोग राजनीतिक सत्ता के लाभ से वंचित थे। समाज वर्णों, जातियों और वर्गों में विभाजित था।
- कीर्तिलता, कीर्तिपताका और लिखनावली मध्यकालीन भारत के इतिहास लेखन में महत्वपूर्ण स्रोत बन सकते हैं।

विद्यापति की रचनाओं में उनका युग बोलता है। उनकी भाषा पर भी युग का पूरा प्रभाव है। आदिकाल में अपभ्रंश से मुक्त होने और देसी भाषाओं के उदय की प्रवृत्ति मिलती है। विद्यापति भी इस युग के प्रतिनिधि कवि हैं। अतः उनकी रचनाओं में भी यह प्रवृत्ति देखने को मिलती है। उनका "देसिल बयना" और "अवहट्ट" इसी प्रवृत्ति की ओर संकेत करता है। असल में कीर्तिलता और कीर्तिपताका में विद्यापति की भाषा करवट लेती प्रतीत होती है और इस रूप में भाषा के माध्यम से भी कवि पुराने युग से मुक्ति और आने वाले युग के आगमन का संकेत दे रहा था।

### 3.3 विद्यापति की भाषा

विद्यापति की मातृभाषा और मिथिला की सामाजिक-सांस्कृतिक भाषा भी मैथिली ही थी। यों मिथिला में विद्वानों के बीच संस्कृत की भी प्रतिष्ठा थी। विद्यापति ने अपनी सर्वाधिक महत्वपूर्ण रचना पदावली मैथिली में ही रची। मिथिला की विद्वत्परम्परा को मानकर उन्होंने संस्कृत में भी रचना की। लेकिन अवहट्ट में कीर्तिलता और कीर्तिपताका की रचना करने के पीछे यही बात प्रेरणा के रूप में काम कर रही होगी कि अपभ्रंश उस समय भी उत्तर भारत के राष्ट्रीय संदर्भ की भाषा थी और विद्यापति का रचनाकार केवल अपने क्षेत्र तक सीमित नहीं था।

#### 3.3.1 जन भाषा का निर्माण

भाषा की दृष्टि से भी विद्यापति संक्रमण-काल में पड़ते हैं। अपभ्रंश का प्रभाव या अपभ्रंश में काव्य रचने की प्रवृत्ति लगभग समाप्त हो रही थी और आधुनिक आर्य भाषाओं का साहित्यिक उदय हो रहा था। भाषा, समाज और काव्य-सृजन के विकास की ऐतिहासिक प्रक्रिया पर गौर करने से यह स्पष्ट होता है कि जब कोई भाषा काव्यात्मक गरिमा पा लेती है और उसका एक परिनिष्ठित रूप शास्त्रीय स्तर पा लेता है तो सामान्य जनता या कहेँ सामान्य जन-मानस के लिए वह रूप दुरुह होने लगता है। जन-चेतना का प्रवाह आमफहम भाषा के साथ आगे बढ़ता रहता है। सामान्य जन के चेतना-प्रवाह और परिनिष्ठित या रूढ़ काव्य-भाषा का अंतर्विरोध नए दौर के रचनाकारों के द्वारा रुढ़ि को तोड़कर और प्रवाह के आग्रह को स्वीकार करके ही हल किया जाता है। उस ऐतिहासिक सच्चाई का अनुभव उस दौर में भी होता है, जब विद्यापति रचना कर रहे थे। उसे हम निम्नलिखित उदाहरणों से समझें। अपभ्रंश की उपलब्ध पुस्तकों में अद्दहमाण (या अब्दुल रहमान) का संदेशरासक और विद्यापति रचित कीर्तिलता मुख्य हैं। अद्दहमाण कहते हैं -

णहु रहइ बुघ इकवित्तरेसि  
अबुहत्तणि अबु हई णहु पवेसि।  
जिण मुख ण पंकिय मज्झयार

तिह पुरउ पठिब्वउ सब्ब वार।

अर्थात् "बुद्धिमान तो उस काव्य में मन नहीं लगाएंगे और जो अबुध (मूर्ख) हैं, उनका काव्य में प्रवेश कैसा? अर्थात् वे उसमें आनंद ही क्यों लेंगे! हाँ, वास्तव में मेरा काव्य उन साधारण जनों के लिए है जो न मूर्ख हैं और न पंडित।"

इस कथन की व्याख्या करें तो स्पष्ट होता है कि काव्य के क्षेत्र में बुद्धिमान तो वे समझे जाते हैं, जो संस्कृत समझते थे, मूर्ख तो अनपढ़ और नासमझ लोग थे जो काव्य नहीं समझते थे। इन दोनों के बीच साधारण जन थे जो संस्कृत तो नहीं जानते थे, लेकिन जन-भाषा में रचित काव्य में रुचि लेते थे। ऐसे ही साधारण जनों के लिए अद्वहमाण ने अपभ्रंश में काव्य-रचना की। यही साधारण जन हैं जिनकी चेतना के प्रवाह के साथ विकसित भाषा रचनात्मकता की नई समस्या को हल करती है। इसी से मिलती-जुलती बात विद्यापति भी कहते हैं -

सक्कअ वाणी बुहअण भावइ पाइअ रस को मम्म न पावइ।  
देसिल बयणा सब जन मिट्ठा, तें तैसन जंपउ अवहट्टा।।

अर्थात् "संस्कृत वाणी को बुधजन (पंडित लोग) ही अच्छी तरह समझते हैं, प्राकृत भाषा के रस का मर्म कोई नहीं पाता है। देसी वचन (बोली) सब लोगों को मीठा लगता है, अतः वैसे अवहट्ट का कथन करता हूँ।"

भाषा और समाज के संबंध का संक्रमण यहाँ अच्छी तरह दिखाई पड़ता है। संस्कृत पंडितों तक सीमित रह गई थी और प्राकृत का मर्म तो कोई नहीं समझता था, क्योंकि पंडित तो उसकी उपेक्षा करते थे और आम जनता उसे समझ नहीं पाती थी। बोधगम्यता और आत्मीयता के कारण देसी वचन यानी गाँवों के लोगों की बोली तो सबको मीठी लगती है, । इसलिए विद्यापति अवहट्ट को देसी बोली के साथ मिलाकर उसमें रचना करते हैं। कवि का उद्देश्य रचना को अधिकाधिक प्रेषणीय बनाना है, इसीलिए वह पंडिताऊ भाषा को जनता की बोलचाल की भाषा के नज़दीक ले जाता है। भाषा की संक्रमणशीलता को इस तरह और ठीक से समझा जा सकता है- कि अद्वहमाण की भाषा में बोधगम्यता की प्रवृत्ति होने के बावजूद अयोगात्मकता कम है। उनकी भाषा अपभ्रंश के उस रूप को लेकर चलती है जो "विभक्तिरहित प्रयोगों में या परसर्गों के प्रयोगों में या इसी प्रकार के अन्य प्रयोगों में स्वयम्भू और पुष्पदंत के अधिक निकट है। उसमें इनका विरल प्रयोग ही है, यहाँ तक कि संदेशरासक की भाषा को प्राकृताभास समझा जा सकता है। विद्यापति की अवहट्ट भाषा अयोगात्मकता में आधुनिक भारतीय भाषा हिंदी आदि के बहुत निकट आ गई है।" (वीरेन्द्र श्रीवास्तव - कीर्तिलता, पृ.३०) ध्यान दें संदेशरासक की भाषा पूरी तरह प्राकृत नहीं, बल्कि "प्राकृताभास" है यानी अपभ्रंश और प्राकृत का मिश्रण उसमें है और कीर्तिलता की भाषा अवहट्ट में देसी भाषा का मिश्रण है। ऐसा इसलिए संभव हो पाया कि इस अवहट्ट का स्वरूप अधिक अयोगात्मक है, जो आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की प्रकृति के निकट है। यह विशेषता केवल कीर्तिलता में नहीं, बल्कि कीर्तिपताका की भाषा में भी है। योगात्मकता से अयोगात्मकता की ओर या संश्लिष्टता से विश्लिष्टता की ओर भाषा का बढ़ना भाषा के विकास की ऐसी प्रक्रिया है जो भाषा को जनता की दृष्टि से सुगमता और सहजता की ओर ले जाती है। भाषा के विकास की इस प्रक्रिया में वाक्य के सभी अंग एक-दूसरे से अलग होते जाते हैं, शब्दों में सामासिकता की प्रवृत्ति लगातार घटती चली जाती है। यही है अयोगात्मकता या विश्लिष्टता। इससे भाषा में सुगमता आती है। इसके विपरीत, संस्कृत में सामासिकता प्रधान होती है। कभी-कभी तो पूरा वाक्य जुड़कर एक शब्द बन जाता है। इससे भाषा दुर्बोध हो जाती है और संधि एवं समास के नियम ही नहीं, उनके विश्लेषण में जो सिद्ध होता है, वही अर्थ समझ पाता है। भाषा के प्राचीन और आधुनिक रूपों की प्रकृति में यह फर्क वास्तव में गुणात्मक फर्क है। इस दृष्टि से विद्यापति के अवहट्ट की ऐतिहासिक विशेषता समझी जा सकती है।

विद्यापति की अवहट्ट की विशेषताओं को समझने के प्रसंग में उसके स्वरूप पर विचार करना जरूरी है। इस सिलसिले में इतना उल्लेख कर देना भी जरूरी है कि यह समझ गलत है कि संस्कृत के बाद प्राकृत और प्राकृत के बाद अपभ्रंश का विकास एवं प्रचलन हुआ। प्राकृत और अपभ्रंश भी पुरानी भाषाएँ हैं। "शब्द सागर" में अपभ्रंश को "प्राकृत का परवर्ती रूप" कहा गया है। लेकिन भाषा के ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि "शब्द सागर" की समझ गलत है। अपभ्रंश का पहला उल्लेख आचार्य पतंजलि क महाभाष्य में मिलता है। पतंजलि के महाभाष्य का समय विद्वानों के द्वारा प्रायः 150 ईस्वी पूर्व माना जाता है। इस प्रकार अपभ्रंश का अस्तित्व जनता के बीच एक भाषा के रूप में प्राचीन काल में भी था, भले ही उस समय उसमें साहित्य नहीं रचा जा रहा हो। यों कुछ विद्वान यह समझाना चाहते हैं कि पतंजलि ने "अपभ्रंश" शब्द का प्रयोग भाषा के नाम के अर्थ में नहीं, बल्कि

शब्दों के विकारी रूप के अर्थ में किया है। यदि इस व्याख्या को मान लिया जाए, तब भी यह कहा जा सकता है कि विकार यानी परिवर्तन की प्रक्रिया में अपभ्रंश का स्वरूप जन-भाषा के रूप में विकसित हुआ और आम जनता का सामाजिक-सांस्कृतिक प्रभाव जब बढ़ा तब उसमें काव्य-सृजन भी होने लगा। इस विकासक्रम में लम्बा समय लगा है।

कीर्तिलता और कीर्तिपताका में अवहट्ट का जो रूप मिलता है, उसे डॉ. बाबू राम सक्सेना और शिवनन्दन ठाकुर ने मिथिलापभ्रंश कहा है। इसका आधार संभवतः यह है कि अवहट्ट पर विद्यापति ने मैथिली का रंग चढ़ाने की कोशिश की है। डॉ. बाबू राम सक्सेना के सम्पादन में 1929 में कीर्तिलता का प्रथम प्रकाशन काशी नागरी प्रचारिणी सभा के द्वारा किया गया। उसी की भूमिका में डॉ. सक्सेना ने कहा कि विद्यापति की अवहट्ट मध्यकालीन प्राकृत और आधुनिक मैथिली के बीच की चीज़ है। उन्होंने कीर्तिलता और कीर्तिपताका की भाषा को अपभ्रंश रूप कहकर मैथिली अपभ्रंश करार दिया। लेकिन यह मत विद्वानों के बीच मान्य नहीं है। इस प्रसंग में डॉ. नामवर सिंह का यह कथन विचारणीय है - कीर्तिलता की भाषा को वर्ण रत्नाकर की भाषा के सम्मुख रखकर देखने से स्पष्ट होता है कि वर्ण रत्नाकर में बंगलापन अधिक है (भले ही वह अनुलेखन पद्धति के कारण आ गया हो) और कीर्तिलता में मैथिली-भोजपुरी-अवधी आदि के आरंभिक बीज। (हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग, नामवर सिंह प्रथम संस्करण, पृ. 58-59) कहने का मतलब यह कि विद्यापति की अवहट्ट पर मध्यदेश और पूरब की तत्कालीन बोलियों का मिश्रित प्रभाव दिखाई पड़ता है। इसपर केवल मैथिली का प्रभाव नहीं है। वास्तविकता यह है कि कीर्तिलता की भाषा पर संस्कृत का भी प्रभाव है।

डॉ. शिव प्रसाद सिंह की भी मान्यता है कि विद्यापति की अवहट्ट को मैथिली अपभ्रंश या मिथिलापभ्रंश कहना ठीक नहीं है। डॉ. सिंह का कथन इस प्रकार है - "कीर्तिलता की भाषा पर मैथिली का रंग अवश्य है, परंतु उसके मूल में शौरसेनी की प्रवृत्तियाँ हैं, इसे कौन अस्वीकार कर सकता है।"

श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और महापंडित राहुल सांकृत्यायन के विचारों का भी सहारा लेते हुए डॉ. शिव प्रसाद सिंह का निष्कर्ष यह है - इन तमाम तर्क-वितर्कों और वाद-विवाद को मिटा देने के लिए यह उचित जान पड़ता है कि इस भाषा को परवर्ती अपभ्रंश या अवहट्ट नाम उत्तरी भारत की संक्रान्तिकालीन भाषा का एकमात्र उपयुक्त नाम हो सकता है।

### 3.3.2 भाषागत विशेषताएँ

अवहट्ट में कीर्तिलता की रचना करने के प्रसंग में विद्यापति का जो भाषागत दृष्टिकोण रहा है, उसकी चर्चा पहले ही की जा चुकी है। उनके सामने सामान्य जन के लिए भाषा को बोधगम्य बनाना था, इसीलिए अवहट्ट को भी उन्होंने "देसिल बयना" यानी मैथिली का संस्पर्श अच्छी तरह दिया है। वे संस्कृत के भी निष्णात विद्वान थे, इसलिए संस्कृत का भी प्रभाव उनकी अवहट्ट पर है। कीर्तिलता का प्रारंभ तो संस्कृत छंद से ही किया गया है। उसके पीछे शायद यह प्रवृत्ति काम कर रही होगी कि विद्वानों के बीच प्रतिष्ठा के लिए संस्कृत-ज्ञान का परिचय देना जरूरी है। लेकिन उनकी संस्कृत ऐसी है कि संस्कृत का साधारण ज्ञान रखने वाला भी उसे समझ सकता है। भाषा को सरलता की ओर ले जाने की प्रवृत्ति यहाँ भी रही है। राजा कीर्ति सिंह के जीवन-प्रसंग के आधार पर रचे गए काव्य का नाम कीर्तिलता रखते हुए विद्यापति का ध्यान कहाँ था, यह निम्नलिखित प्रारंभिक पंक्तियों से ही स्पष्ट हो जाता है -

तिहुअण खेतहि कांइ तनु कित्तिवल्लि पसरैइ।  
अक्खर खंभारम्भ जउ मंचा बंधि न देइ॥

अर्थात् यदि अक्षर रूपी खम्भे को आरंभ में (काव्य को) बाँध न दिया जाए तो त्रिभुवन के क्षेत्र में उसकी कीर्ति की लता कैसे पसरे?

गाँव में किसान शाक-सब्जी की लता के फैलने के लिए बाँस-बल्ली से मंच का निर्माण करते हैं। विद्यापति ने, अपने काव्य की लता के पसरने के लिए भाषा का मंच खड़ा किया और इसके लिए वे अक्षर-अक्षर पर ध्यान देते हैं। विद्यापति की भाषा-चेतना इस पद के विश्लेषण से भी स्पष्ट होती है। संस्कृत कीर्ति यहाँ "कित्ति" के रूप में और संस्कृत "प्रसरति" अथवा "प्रसरित" या "प्रसरती" यहाँ "पसरैइ" के रूप में है ही। अक्षर तो अक्खर के रूप में है ही। ध्यान खींचता है "खम्भारंभ" शब्द। स्तम्भ "खम्भ" बन गया है, "आरंभ" तत्सम रूप में ही मौजूद है। संस्कृत के विद्वान तत्सम और तद्भव में संधि नहीं मानते, लेकिन विद्यापति ने व्याकरण के नियम की उपेक्षा करके "खंभारंभ" शब्द



बनाकर भाषा के विकास को नई गति दी है। एक नया आनंद आता है यह देखकर कि विद्यापति ने अपने नाम का भी अवहट्ट रूप बना दिया, जब वे अपनी भाषा के नए रूप पर गर्व करते हैं -

**बालचंद विज्जावड़ भासा दुहु नहिं लग्गइ दुज्जन हासा।  
सो परमेसर सेहर सोइइ, इणच्चइ णाअर मन मोहइ॥**

विद्यापति "विज्जावड़" हो गए हैं, जब कि ऐसा करना जरूरी नहीं था। दूसरी पंक्ति में "शेखर" "सेहर" बन गया है और निश्चय "णिच्चइ" के रूप में आया है। नागर णाअर हो गया है। विद्यापति के इस तरह के प्रयोगों का अध्ययन भारतीय आर्यभाषाओं के आपसी संबंध और आधुनिक आर्यभाषा के विकास के एक महत्वपूर्ण मध्यकालीन पड़ाव का ज्ञान देता है। इस दृष्टि से विद्यापति की "देसिल बयना" मिश्रित अवहट्ट भाषा का ऐतिहासिक महत्व है। कीर्तिलता और कीर्तिपताका का महत्व इस दृष्टि से भी बहुत अधिक है। यह ध्यान देने लायक है कि मैथिली कवि विद्यापति, जिनके बारे में कभी यह बहस थी कि वे मैथिली कवि हैं या बंगाली, वे ही कीर्तिलता और कीर्तिपताका की भाषा के माध्यम से हिंदी भाषा के विकासक्रम को समझने का आधार प्रस्तुत करते हैं और उससे मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा और आधुनिक भारतीय आर्यभाषा का संबंध समझ में आता है।

विद्यापति की अवहट्ट का भाषागत पाठ या यह कहें कि अक्षर का ठाठ (मंच) इतना विस्तृत है कि उसमें राजस्थानी का भी प्रवेश हो गया है। राजस्थानी में मूर्द्धन्य "ण" के प्रयोग का बाहुल्य रहता है। विद्यापति के अवहट्ट में बाहुल्य तो नहीं, लेकिन अनेक शब्दों में "ण" को जगह मिल गयी है, जो पूर्वी प्रयोग नहीं है, मैथिली या हिंदी में तो यह प्रवृत्ति कतई नहीं है। "णिच्चइ", "णाअर" आदि पश्चिमी प्रयोग के प्रभाव के सबूत हैं।

संस्कृत, मैथिली और अवहट्ट का मिश्रण कीर्तिलता की भाषा में अनेक पदों में मिलता है। लेकिन निम्नलिखित पंक्तियों में उपर्युक्त मिश्रण का विलक्षण दृष्टांत मिलता है -

**मध्याहन करि वेला संमई साज, सकल पृथ्वी चक्र करो वस्तु  
बिकाए आए राज मानुसकरी पीसि वर आगे आंग डगर  
आनक तिलक आनका लाग पात्रहूतह परस्त्रीक वलआ माँग।  
ब्राह्मणक यज्ञोपवीत चांडाल का आ गल ।  
वेश्याहिन पयोधरे जतिहि क हृदय चूर ।  
धन संचरे धोल हाथि हति बापर चूरि जाथि।  
आवर्त्त विवर्त्त रोलहो नगर नहि नर समुहओ॥**

यहाँ मध्याह्न, वेला, सकल, पृथ्वीचक्र, वस्तु, परस्त्री, ब्राह्मण, यज्ञोपवीत, चांडाल, वेश्या, आवर्त्त, विवर्त्त आदि शब्द तत्सम हैं। लेकिन इन्हें अन्य स्रोतों से आए शब्दों के साथ वाक्य में इस प्रकार गुम्फित किया गया है कि इनका तत्सम होना पाठकों को महसूस नहीं होता। एक तो ये शब्द संस्कृत होते हुए भी प्रचलित शब्द हैं, दूसरे भाषा में क्रिया रूपों के प्रयोग के कारण सुगमता आ गई है। "बिकाए आए" क्रिया युग्म मैथिली और हिंदी के मेल से बने हैं। "बिकाए" मैथिली है, जिसका अर्थ "बिकने के लिए" और "आए" तो खड़ी बोली की क्रिया "आना" का भूतकालिक रूप है। ये विलक्षण रचनात्मक भाषा प्रयोग का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। "आनक तिलक" में "आनक" ठेठ मैथिली प्रयोग है जिसका अर्थ है - अन्य का। इस पद में "का" के लिए मैथिली "क" का प्रयोग अनेक जगह है।

कीर्तिलता की भाषा में मैथिली के प्रवेश या प्रभाव का एक उदाहरण ध्यान देने योग्य है -

**हिन्दू तुलुक मितल वास,  
एकक घम्मे ओकाक हास।  
कतहु बाँग, कतहु वेद  
कतहु विसमिल कतहु छेद  
कतहु ओझा कतहु खोजा  
कतहु नकत कतहु रोजा  
कतहु तम्बारू कतहु कूजा  
कतहु नीमाज कतहु पूजा  
कतहु तुलुका बल कर  
बाट जाएते बेगार घर॥**

जिस संक्रमणकाल में विद्यापति हुए, उसका भाषागत प्रतिफलन यहाँ हम देख सकते हैं। यों उपर्युक्त पंक्तियों में "कतहु" में हर पंक्ति के आने और अंत में "जाएते" क्रिया के प्रयोग में मैथिली का प्रभुत्व है, लेकिन तुलुक (तुर्क), बाँग, बिसमिल, खोजा, रोजा, नीमाज (नमाज) आदि फारसी शब्द अभिव्यक्ति की नयी आवश्यकता की पूर्ति कर हिंदी के शब्द-भंडार में वृद्धि कर रहे हैं। एक और प्रयोग यहाँ ध्यान खींचता है "नकत" जो तत्सम नक्षत्र और तद्भव नखत के ही फारसी उच्चारण के प्रभाव से बना शब्द है। कीर्तिलता की भाषा में फारसी के भी शब्द काफी मात्रा में पाए जाते हैं। दरवेस, मखदूम, हुकुम जैसे शब्द यथा-स्थान आते रहे हैं।

कीर्तिपताका की रचना भी अवहट्ट में ही की गई है, लेकिन विद्यापति के व्यक्तित्व के सांस्कृतिक स्वरूप का प्रभाव कीर्तिपताका की भाषा में अनेक स्थलों पर नयापन लिए हुए है। एक युवती के सौंदर्य का वर्णन देखिए -

दीरघ केश कपाल कुटिल कोमल घनस  
दम्पमत कन्दप्प, धनु जनि बन्धिलु चामर।  
निष्कलंक ससि बिम्ब सरिस सुन्दर मुखमण्डल,  
पिअ अनुराग कहन्त सबन डोलबे कुण्डल।  
गुरु पीन पयोधर भार भरे मत्त मतंगज मंदगति,  
संसार सार सिंगार रस कमल रुचि तुल हरइ जुवति।

इस पद की भाषा संस्कृत प्रधान है। ऐसा लगता है कि पद के संदर्भ के अनुसार यहाँ कवि जयदेव से प्रभावित या प्रेरित हैं। लेकिन संस्कृत के "दीर्घ" "दीरघ", "दर्प" दम्प, "कन्दर्प", "कंदप्प", "शृंगार" सिंगार बनकर भाषा की विकास-प्रक्रिया का परिचय दे रहे हैं।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि विद्यापति की भाषा सामाजिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से सामासिक संस्कृत के विकास का भाषाई स्वरूप प्रस्तुत करती है। यह विद्यापति की अपनी विशिष्टता है। वे शब्दों के चयन में निःसंकोच इस सामासिकता का इज़हार करते हैं। क्रिया रूपों के प्रयोग में भी स्वच्छंदता बरतते हैं। परसर्गों का स्वतंत्र विभक्ति चिह्नों के रूप में प्रयोग करने की जो प्रवृत्ति कीर्तिलता में है, वह विद्यापति की अवहट्ट को आधुनिक भारतीय भाषा के विकास से जोड़ देती है। सामान्य जन को ध्यान में रखने और उनके बीच रहने के कारण बोलचाल की संज्ञाएं, क्रियाएं आदि धड़ल्ले से प्रयुक्त हुई हैं। आज के पाठकों और रचनाकारों के लिए प्रासंगिक बातें हैं विद्यापति के रचनात्मक प्रयोगों से निकलते हुए सिद्धांत या नियम। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि रचनाकार को विद्यापति के समान समाज की ऐतिहासिक गतिशीलता, जनता की मानसिकता, स्थानिकता के साथ ही व्यापक राष्ट्रीय-सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य आदि को ध्यान में रखना चाहिए।

### 3.4 सारांश

विद्यापति संक्रमण काल के कवि हैं। विद्यापति की रचनाओं पर इस संक्रमण का प्रभाव परिलक्षित होता है। उन्होंने चरित काव्य भी लिखे, शृंगार के पद भी लिखे और भक्ति में भी लीन हुए। संक्रमण काल के कवि होने के नाते विद्यापति का महत्व और भी बढ़ जाता है। उनमें अवसान और उदित होती प्रवृत्तियों का अद्भुत संगम दिखाई पड़ता है।

विद्यापति के समय में भारत में आम तौर पर दिल्ली सल्तनत का शासन था। उनके जीवन-काल में दिल्ली में तुगलक वंश और लोदी वंश का शासन रहा। एक सामान्य धारणा है कि भारतीय इतिहास के मध्यकाल में धर्म राजनीति की नियामक शक्ति हो गया था। कीर्तिलता की कथा इस धारणा को झुठलाती है। कीर्तिलता की कथा से जो दृष्टिकोण सामने आता है उससे लगता है कि राजनीति धार्मिक प्रभाव से मुक्त हो रही थी। आज के माहौल में विद्यापति की कीर्तिलता और भी प्रासंगिक हो उठी है।

विद्यापति-युगीन समाज सामंती समाज था। समाज वर्ण, जाति और वर्ग में विभाजित था। आर्थिक और सामाजिक रूप से विपन्न लोगों का दमन और शोषण होता था। राजा, महाजन और व्यापारी सुखी थे। कीर्तिलता में इस तथ्य का उल्लेख है कि हिंदू-मुसलमान साथ-साथ रहते थे। हिंदू समाज में जाति व्यवस्था और विवाह पद्धति और भी विकृत हुई। एक तरफ धन था दूसरी ओर गरीबी। समाज में आर्थिक विषमता बहुत गहरी थी। दास की स्थिति बहुत खराब थी। किसानों की हालत कुछ बेहतर थी।

विद्यापति की रचनाएँ खासकर कीर्तिलता, कीर्तिपताका और लिखनावली अपने समय के जीवंत दस्तावेज़ हैं। मध्ययुगीन इतिहास लिखने में इनका सार्थक उपयोग किया जा सकता है।

मैथिल कोकिल विद्यापति ने जनभाषा को साहित्यिक गरिमा प्रदान की। यह भी सही है कि साहित्यिक भाषा को वे जनभाषा के करीब ले गए। उनकी भाषा पर भी संक्रमण का प्रभाव है। इसलिए उनकी भाषा में नूतन और अभिनव प्रयोग मिलते हैं। उनकी भाषा भारतीय आर्य भाषा की अगुआ है। विद्यापति की भाषा उनकी काव्य प्रतिभा का उत्कृष्ट नमूना है। उसमें ऐतिहासिक गतिशीलता है, जनता के बोल हैं, स्थानीयता है। इसके साथ-साथ उनकी भाषा व्यापक राष्ट्रीय-सांस्कृतिक संदर्भ को समेट कर चलती है।

अगली इकाई में हम विद्यापति पदावली का अध्ययन करते हुए उनके काव्य-व्यक्तित्व का विशिष्ट परिचय प्राप्त करेंगे।

---

### 3.5 अभ्यास

---

निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर 200 शब्दों में दीजिए :

1. आज के संदर्भ में विद्यापति के राजनैतिक दृष्टिकोण का मूल्यांकन कीजिए।
2. विद्यापति की रचनाएँ इतिहास का दस्तावेज़ किस प्रकार बन सकती हैं? सोदाहरण उत्तर दीजिए।
3. विद्यापति की भाषा की विशेषताओं और महत्व का विवेचन कीजिए।